आचार्य अमृतचन्द्र के समकालीन परिरिस्थतियों का संक्षेप अध्ययन (विशेषकर 7वीं शताब्दी से 10वीं शताब्दी के मध्य)

*डॉ. अन्शुल शर्मा

भगवान महावीर के निर्वाण के उपरान्त, लगभग दो हजार वर्ष पूर्व कालदोष के कारण, आगम और अध्यात्म ज्ञान को आगामी पीढ़ी के लिए सुरक्षित रखने हेतु साहित्य निर्माण की आवश्यकता पड़ी जो कि इतिहास दृष्टि से महत्वपूर्ण भी है। सर्वप्रथम गुणधराचार्य ने कषायपाहुड (पोज्जदोस पाहुड) की रचना की। उनके पश्चात् धरसेनाचार्य के शिष्यद्वय आचार्य पुष्पदन्त एवं भूत्तबलि ने ईसा की प्रथम शताब्दी में षट्खझडागम सिद्धान्त ग्रन्थ की सूत्र–रचना की जो प्रथम श्रुतस्कन्ध कहलाया।

आचार्य कुन्दकुन्द (ईसा की प्रथम शताब्दी) ने षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्डों पर परिकर्म नामक लेख लिखा। इसके पश्चात् उन्होंने समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पंचस्तिकाय, अष्टपाहुड, रयणसार आदि आध्यात्मिक मौलिक पद्य रचनाएँ प्राकृत भाषा में कीं।

आचार्य कुन्दकुन्द के बाद लगभग एक हजार वर्ष तक जैन दर्शन क्षीण गति से प्रवाहित होता रहा। यद्यपिइ स काल में आचार्य समन्तभद्र, सिद्धसेन, पूज्यपाद योगीन्हु रविषेण, अकंलकदेव, जिनसेन, विद्यानन्द, देवसेन अमितगति जैसे समर्थ एवं प्रभावान जैनाचार्य हुए जिन्होंने अपने काल में जैन साहिल्य रचना के साथ महती धर्म–प्रभावना की, इसके उपरान्त भी काल–दोष में ब्रह्म–किया के मध्य अध्यात्म तत्व जनजीवन से लुप्त होता रहा। आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थ थे परन्तु उनके रहस्य को जानने वाले नहीं थे।

इसी उद्देश्य की पूर्ति की दसवीं में आचार्य अमृतचन्द्रसूरि जैसे समर्थ ज्ञानवान पारगामी तत्त्विद् आत्मानुभवी व्यक्तित्व के पदाप्रण से हुई जिन्होंने आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार, प्रवचनसार एवं पंचरिस्तकाय की संस्कृत टीकाओं की विवेचना की, जिसका विस्तृत रूप पुरूषार्थसिद्धयुपाय, तत्वर्यसार जैसे महत्वपूर्ण मौलिक ग्रन्थ हैं ।

यदि आचार्य अमृतचन्दसूरि ने ये टीका ग्रन्थ न लिखे होते तो जनजीवन से अध्यात्म तत्त्व का लोप हो गया होता और आचार्य कुन्दकुन्द रहस्य के घेरे में ही रह जाते। अध्यात्म के क्षेत्र में आचार्य अमृतचन्द्रसूरि के महान एवं असाधारण योगदाान के कारण उन्हें कलिकाल– गणधर के रूप में माना जाने लगा।

जैन अध्यात्म के क्षेत्र में आचार्य कुन्दकुन्द के बाद यदि किसी का नाम लिया जा सकता है तो वे हैं आचार्य अमृतचन्द्र जिन्होंने ने केवल आचार्य कुन्दकुन्द के ग्रन्थराज समयसार, प्रवचनसार एवं पंचस्तिकायसंग्रह पर आत्मख्याति, तत्त्वप्रदीपिका एवं समयव्याख्या जैसी अदभुत, अपूर्व एवं सशक्त टीकाएँ लिखीं, अपितु अनेक मौलिक ग्रन्थ भी लिखे जो अपनी विशिष्ट शैली और मौलिकता के लिए प्रसिद्ध हैं। साथ ही हमें इन कृतियों में संस्कृत भाषा का प्रयोग पहली बार दिखाई देता है अर्थात् प्रथम शती का पूर्वार्द्ध से 900 ईस्वी तक कुन्दकुन्द ग्रन्थ में प्राकृत भाषा का प्रयोग होता आया उसको आचार्य अमृतचन्द्र जी ने एक नई शैली (संस्कृत भाषा) में प्रस्तुत कर जन–जन तक पहुँचाया।

आचार्य अमृतचन्द्र जी की रचनाओं में वर्णित उनके युग की सामाजिक, धार्मिक साहित्यिक तथा राजनीतिक परिस्थितियाँ इतिहास के उस संधिकाल पर प्रकाश डालती है, जब एक और प्राचीन व्यवस्था लुप्त हो रही थी और सामंत व्यवस्था जोर पकड़ रही थी। राष्ट्रकूट राज कृष्णराज तृतीय का का उस समय महत्वपूर्ण था। बंगाल के पाल, राजस्थान व मध्य प्रेदश

के गुर्जर, प्रतिहार तथा दक्षिण के राष्ट्रकूट एक दूसरे पर अपना प्रभाव बढ़ाने के प्रयास कर रह थे। इस प्रक्रिया में जहाँ एक और संघर्ष का वातावरण था, वही दक्षिण का मिलन हा रहा था। जहाँ सांस्कृतिक व आध्यात्मिक मिलन की झलक आचार्य अमृतचन्द्र के ग्रन्थ में देखने को मिलती है।

वास्तव में आचार्य अमृतचन्द्र के ग्रंथों में आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा जो आध्यात्म एवं दर्शन का बीज बोया था, उसे अपने अनुपम व्यक्तित्व द्वारा पल्लवित, पुष्पित फलित और विस्तृत किया था। उनकी पूर्ण करने का श्रेय आचार्य अमृतचन्द्र को ही है। आचार्य अमृतचन्द्र के ग्रन्थों में कर्म मूलक विरक्तता का विकास होता है, सांस्कृतिक अध्ययन की दृष्टि से जहाँ एक प्रश्न उभर कर आता है कि क्या यह कर्म विरक्तता की भावना और अवधारणा वही है जो समयसार जैसे विशालकाय ग्रन्थ में दार्शनिक शुद्धोपयोग के रूप में मिलती है।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी आचार्य अमृतचन्द्र जी न केवल सिद्धहस्त कवि ही है अपितु सुप्रतिष्ठित सफल गद्यकार भी है। उनकी प्रतिभा का चमत्कार गद्य और पद्य साहित्य की दोनों ही विधाओं में समान रूप से हुआ है। अमृतचन्द्र की कृतियों का अध्ययन करते समय एक बात अत्यन्त स्पष्ट रूप से प्रतिपादित होती है कि जब वे किसी बात को सिद्ध करना चाहते हैं या समझाना चाहते है। तो गद्य का सहारा लेते हैं और जब वे अन्तर से गद्‌गद् होकर आध्यात्म मार्ग में चलने की प्रेरणा देना चाहते हैं तो सहज ही अनके कष्ट से उनकी कलम से कविता प्रस्फुटित होने लगती है । तात्पर्य यह है कि उनके साहित्य में बुद्धि एवं हृदय–दोनों का ही सुन्दरतम् समन्वय है। न तो व एकान्ततः भावुक ही हैं और न शुष्क तर्कबाज, उनके ग्रन्थों में भावना और तर्कों का सुन्दरतम सरल समन्वय है।

आचार्य अमृतचन्द्र की मौलिक कृतियाँ पद्य में है और टीका ग्रन्थ गद्य में, पर आत्मख्याति इसका अपवाद है। उसमें गद्य के साथ–साथ पद्य का भी पर्याप्त प्रयोग हुआ है। उनकी कृतियाँ ताड़पत्रों, कागजों तथा कपड़ों पर सैकड़ों वर्षो से सुरक्षित हैं। आचार्य अमृतचन्द्र की समग्र साहित्य का उल्लेख अनेक विद्धानों ने किया है, लेकिन यह बात भी नहीं है कि आचार्य अमृतचन्द्र अध्यात्म गंगा में ही डुबकियाँ लगाते रह हो या न्याय शास्त्र के बीहड़ों में ही भटकते रह है। उनके स्तोत्रों में भक्ति का तरल प्रवाह भी है और उन्होंने पुरूषार्थ सिद्धयुपाय जैसे सशक्त श्रावकाचार की रचना की है।

स्थितिकाल

7वीं, 8वीं और 9वीं शताब्दियाँ, मध्यकालीन दार्शनिक इतिहास की क्रांतिपूर्ण शताब्दियाँ थीं।[1] इस समय जहाँ प्रत्येक दर्शन ने स्वदर्शन की किलेबन्दी की, वहाँ परदर्शन पर विजय पाने का अभियान भी किया। इन शाताब्दियों में कई बड़े–बड़े शास्त्रार्थ हुए।[2] इस युग में महावादी भट्टाकलक ने जैन न्याय के अभेद्य दुर्ग का निर्माण किया जिनकी यशोगाथा शिलालेखों, ग्रन्थों, टीकाओं आदि में बिखरी पड़ी है। वस्तुतः यह काल धार्मिक संघर्ष का काल था जहाँ एक ओर आचार्य भट्टाकलक ने प्रमुखतः बौद्धों के साथ दार्शनिक संघर्ष किया वहीं दूसरी ओर अनेक सिद्धान्तों पर विजयपताका फहराई। इस काल में विभिन्न धर्मों में दार्शनिक स्पर्धा के तर्क, न्याय तथा बुद्धि का विकास हो रहा था वहीं दूसरी और विभिन्न सम्प्रदायों में भ्रष्टाचार, आलस्य, विलासिता, हिंसापूर्ण मद्य, मांस, मधु तथा व्यभिचार आदि द्रुतगति से पनप रहे थे। उक्त वातावरण नवमी–दशमी शताब्दियों तक अपनी चरम सीमा को छून लगा था। यह सभी लक्षण बौद्ध धर्म में अधिक दिखाई दे रहा था। जैन धर्म हिन्दू धर्म के निकट आ रहा था और अपना प्रभाव बढ़ा रहा था। इसका एक कारण राजनीतिक संघर्ष भी था।

नवीं शताब्दी में जो धार्मिक उथल–पुथल दिखाई दे रही थी उसका एक कारण राजनीतिक भी था क्योंकि इस समय कई छोटे–छोटे राज्यों का प्रादुर्भाव हो गया था और वह अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष कर रहे थे वरन् पूरे भारत में संघर्ष का वातावरण था। त्रिराज्य संघर्ष अपनी चरम सीमा पर था जिसमें मुख्य प्ररिस्पर्धा दक्षिण के राष्ट्रकूट वंश, बंगाल के पाल, राजस्थान व मध्यप्रदेश के गुर्जर, प्रतिहार एक दूसरे पर अपना प्रभाव बढ़ाने के प्रयास कर रहे थे। पूरे भारत में

आतंककारी राजनैतिक वातावरण था। लोगां में मेरे–तेरे की भावना एक दूसरे को नीचा दिखाने की धार्मिक प्रवृत्ति साथ ही साथ धर्मो में भी हिंसा का प्रभाव बढ़ता जा रहा था।

इस संघर्ष के बातावरण में हम देखते हैं कि जैन धर्म अपना प्रभाव बढ़ा रहा था और बौद्ध धर्म की अपेक्षा जैन धर्म हिन्दू धर्म के अधिक निमट आ रहा था और अनेक प्रकार की लोकधारणाएँ एवं प्रथाएँ दोनों में समान रूप से प्रचलित हो रही थी। इसके साथ कई राज्यों ने जैन धर्म को राज्यश्राय दिया और दान भेंट किये।[3] 812 ई. में शनिश्चर ग्रह के उपद्रवों से चालुक्य विमलदित्य को मुक्ति दिलाने के लिए जैन मन्दिर में भेंट चढ़ाया गया। हिन्दू दानपत्रों की व्यवस्थाओं के समान ही, अनेक जैन दानपात्रों में हम देखते है कि दानदाताओं से धर्मस्त की आय दैनिक पूजा–पाठ तथा उत्सवों में लगाने को कहा गया है।

इस प्रकार राष्ट्रकूट वंश के कई राजाओं ने इसको राज्याश्रय दिया जिसमें प्रमुख हैं– अमोघवर्ष प्रथम, कृष्ण द्वितीय, इन्द्र तृतीय और चतुर्थ। प्रसिद्ध जैन आचार्य जिनसेन अमोघवर्ष प्रथम के परमगुरू थे। इसके शिष्य आचार्य गुणभद्र को अमोघवर्ष के पुत्र कृष्ण द्वितीय ने अपना गुरू नियुक्त किया। कृष्ण द्वितीय ने मूलगुण्ड के एक जैन मन्दिर को दान दिया था। इसी प्रकार इन्द्र तृतीय ने जैन शान्तिदेव के लिए एक स्थान–पीठिका बनाई थी। इन्द्र चतुर्थ जैन धर्मावलम्बी था। इन राजाओं ने जैन मन्दिरों और मठों को बड़ा दान देकर उनके संगठन में योग दिया था। इसी प्रकार गंगवंश और होयसल वंश ने भी इसको आश्रय दिया।

जैन धर्म को राज्याश्रय और दान भेंट आदि के साथ हिन्दू धर्म के निकटता के कारण इसमें रूढिवादी विचारों का प्रभाव पड़ा और यह शिथिल पड़ने लगा, जैन भट्टारक पीठों में भी कई दृष्टियों से वैदिक पद्धतियों का प्रवेश हुआ।[4] पद्मावती देवियों को काली, दुर्गा या लक्ष्मी का ही रूप माना जाने लगा। अध्यात्म शास्त्रों के व्याख्यान में आत्मा के समान ही ब्रह्म का निरूपण होने लगा। मन्त्र तन्त्र चमत्कार आदि के द्वारा जनता पर अपना प्रभाव जमाये रखना तत्कालीन भट्टारकों का प्रमुख कर्तव्य बन गया था।

सुश्री एस. स्वीवेशन लिखती हैं कि जैन सम्प्रदाय ने भारत के तत्कालीन आर्थिक एवं नैतिक जीवन के पक्ष को अपनाया। हिन्दू जातियों में मौजूद अनेक नियमों तथा नियन्त्रण को शनैःशनैः अपनाया प्रारम्भ किया और जातिप्रथा का ढाँचा भी जैनधर्म में हिन्दू धर्म की तरह निर्मित हो गया। यहाँ तक कि मृतक के शरीरको जलाना, उसकी राख को पानी में गिराना आदि सामाजिक रूढ़ियाँ भी जैन धर्म ने हिन्दू धर्म से ग्रहण की। हिन्दुओं के उत्सवों को भी जैनों ने अपनाया।[5]

इन सब कारणों से जैन धर्म में शिथिलता तथा आंतरिक तथा बाह्म विरोधियों के कारण धार्मिक पतन हो रहा था और हिंसात्मक प्रवृत्तियों का प्रभाव बढ़ता जा रहा था। आचार्य अमृतचन्द्र के समय में यह प्रवृत्तियाँ अपनी चरम सीमा पर थी। ''उन्होने हिंसात्मक तथ्यहीन युक्तियों का खण्डन किया और अहिंसामयी अमृत द्वारा उत्पीड़ित जनमानस को शांति के मार्ग का प्रदर्शन किया, इसके साथ ही जैनदर्शन व धर्माचार में आगत्त अनाचार व पतन से जैन आचार तथा विचारों का परिमार्जन एवं संरक्षण किया।''[6]

अनके धार्मिक उपदेश जो कि उनकी कृतियों में संगृहीत हैं, उनके उपदेशों से लोगों में धार्मिक प्रवृत्ति का निरूपण हुआ, और जो लोग धर्म के प्रति निराश हो रहे थे वे वापिस से जुड़े। इसी प्रकार तत्कालीन वातावरण में व्याप्त मद्य, मांस, मधु, पाँच प्रकार के उदुम्बर फलों[7] के सेवन को महान् हिंसाकारक सिद्ध करते हुए उनके त्याग का सर्वप्रथम उपदेश उन्होंने दिया। उनके शब्दों में– ''हिंसा के त्याग के इच्छुक पुरूषों को प्रथम ही प्रयत्नपूर्वक शराब, मांस, मधु (शहद) और पाँच अदुम्बर फलों को छोड़ देना चाहिये''।

इस तरह आचार्य अमृतचन्द्र ने हिंसा के आलोक में अहिंसा का सर्वप्रकार उत्थान करके, अहिंसामयी अध्यात्म रस एवं वर्षा

द्वारा सन्तप्त आत्माओं से शांति व राहत उपलब्ध कराई। उनके प्रखर व्यक्तित्व तथा असाधारण कृतियों द्वारा समाज, साहित्य, धर्म तथा देश को आलोकित और प्रभावित किया।

सांराश

पूर्व मध्यकाल में संस्कृत भाषाओं मे रचित सम्पूर्ण जैन साहित्य की तरह जैन दर्शन के ग्रन्थ भारतीय के उन धुंधले पृष्ठो को प्रकाशित करते है जिनके विषय में इतिहासकारों का ज्ञान बहुत कम है। आचार्य अमृतचन्द्र की कृतियों व टीकाओं छाय ईस्वी दशवी शती के बाद के हजार वर्ष तक की परम्परा को आलोकित तथा अनुप्रणित किया, साथ ही आचार्य अमृतचन्द्र की रचनाओं में उनके युग की सामाजिक, धार्मिक, साहित्यक तथा राजनीतिक परिस्थितियां इतिहास के उन सन्धिकाल पर प्रकाश डालती है, जब एक और प्राचीन व्यवस्था लुप्त हो रही थी और समाप्त व्यवस्था जोड़ पकड़ रही थी आचार्य अमृतचन्द्र के ग्रन्थों में अंहिसा को परम धर्म मानकर हिंसा सिद्वान्त का विरोध किया गया, जो कि हमारी संस्कृति का प्रयास सदा से ही रहा है।

Head & Assistant Professor,
S. S. Jain Subodh P.G. College,
Jaipur

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची:–

1. अनंतवीर्याचार्य कृत (स.) पं. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य–सिद्धिविनिक टीका, पूर्वार्द्ध, पृ. 7
2. नीलकण्ठ शास्त्री – दक्षिण भारत का इतिहास, पृ. 378
3. सं. विद्याधर जोहरापूरकर – भट्टारक समुदाय,पृ.17
4. *Miss Sinclai Hevenson – The heart of Jainism, p- 55 & 78*.
5. उत्तमचन्द्र जैन – आचार्य अमृतचन्द्र व्यक्तित्व एवं कर्तृव्य, पृ. 13
6. आचार्य अमृतचन्द्र जी – पुरूषार्थसिद्धयुपाय, पृ. 60